The Academic
International Journal of Multidisciplinary Research

An Online Peer Reviewed / Refereed Journal
Volume 3 | Issue 4 | April 2025
ISSN: 2583-973X (Online)
Website: www.theacademic.in

भानुप्रताप शुक्ल की पत्रकारिता में सामाजिक संचेतना का विश्लेषणात्मक अनुशीलन

आदित्य देव त्यागी
शोध छात्र, तिलक पत्रकारिता एवं जन संचार स्कूल, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ

प्रो. (डा.) प्रशांत कुमार
निदेशक, तिलक पत्रकारिता एवं जन संचार स्कूल, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ

ARTICLE DETAILS

Research Paper

Accepted: 27-04-2025

Published: 10-05-2025

Keywords:
भू-सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, लोक संरचना, रामराज्य, उत्क्रांति, वैवाहिक पावित्र्य, एकमेव मार्ग।

ABSTRACT

पत्रकारिता के क्षेत्र में बहुचर्चित संपादक एवं स्वतंत्र चिंतक भानुप्रताप शुक्ल ने अपने लेखन से भारतीय जनमानस को लंबे समय तक जागृत किया है। शुक्ल के आलेख सनातन भारतीय संस्कृति एवं समाज व्यवस्था के साक्षात प्रमाण के रूप में पाठकों के मानसपटल पर गहरी छाप छोड़ते हैं। शुक्ल की पत्रकारिता सामाजिक संचेतना की दृष्टि से समकालीन पत्रकारों में उनको अग्रणी बनाती है। प्रस्तुत शोध पत्र उनके लेखन में स्वातंत्र्योत्तर भारत की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक घटनाक्रम के साथ ही रचनात्मक पत्रकारीय दृष्टिकोण के विश्लेषणात्मक अध्ययन का प्रयास है। 'पाञ्चजन्य', 'राष्ट्रीय सहारा', 'पंजाब केसरी', 'स्वदेश' समेत 'दैनिक जागरण' जैसे समाचार पत्रों को अपनी लेखनी से अभिषिक्त करने वाले भानुप्रताप शुक्ल की पत्रकारिता के सामाजिक चिंतन पक्ष पर अनवरत विचार विमर्श तो हुआ है किंतु अकादमिक जगत में इस महत्तवपूर्ण पक्ष पर शोध की स्थिति नगण्य रही है। शुक्ल की पत्रकारिता में सामाजिक संचेतना के अध्ययन के लिए उनके आलेखों, पुस्तकों तथा वक्तव्यों का अध्ययन अपेक्षित है। शोधार्थी ने प्रस्तुत शोध में इसी बिंदु को ध्येय रखते हुए समग्र अध्ययन का प्रयास किया है। शोध अध्ययन का मुख्य प्रश्न वर्तमान संदर्भों में भानुप्रताप शुक्ल की पत्रकारिता में सामाजिक संचेतना की उपादेयता है। उनका सांकृतिक चिंतन आज भी राजनेताओं तथा समाज सुधारकों समेत समाज जीवन से जुड़े हर व्यक्ति के लिए पाथेय बना हुआ है। शोध अध्ययन का निष्कर्ष स्थापित करता है कि एक प्रखर सामाजिक और सांस्कृतिक चिंतक, विचारक के रूप में शुक्ल की पत्रकारिता अनुकरणीय होने के साथ ही भारतीय समाज की गर्वोज्वल व्यवस्था का समृद्ध, साकार एवं अनुपम चित्रण है।

DOI : https://doi.org/10.5281/zenodo.15382068

प्रस्तावना

भानुप्रताप शुक्ल अखंड भारत के आलोक में सांस्कृतिक समृद्धि एवं समाज को एक दूसरे का पूरक मानते हैं। उनका चिंतन भू-सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की संकल्पना से प्रेरणा प्राप्त करता है। भारतीय समाज व्यवस्था मानव की स्वाभाविक विविधता का सर्जक है। शुक्ल

की पत्रकारिता न केवल सामाजिक संचेतना को स्वर प्रदान करती है अपितु राष्ट्रहित और लोक कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त करती है। उसमें राष्ट्रीयता, संस्कृति तथा

जीवन मूल्यों का बोध जागृत किए जाने का भाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। वे केवल समस्याओं का विवरण देकर ही अपने कर्तव्य को पूरा नहीं मानते, बल्कि अनुभवजन्य समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। एक पत्रकार, समालोचक के रूप में उनका प्रखर चिंतन राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक उन्नयन का सर्वकालिक दिशाबोध है। वे एक ऐसे वैचारिक योद्धा के रूप में उपस्थित होते हैं जो वर्तमान पीढ़ी से तर्क के आधार पर बात करते हैं। वे अपने लेखन से इस देश की सामाजिक चेतना को संदर्भों के साथ स्थापित करते हैं।

शोध उद्देश्य

प्रस्तुत शोध पत्र के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :

1. भानुप्रताप शुक्ल की पत्रकारिता में भारतीय समाज व्यवस्था की उपादेयता के विविध पक्षों का अध्ययन करना।
2. भानुप्रताप शुक्ल द्वारा लिखित आलेखों तथा संपादकीयों में वर्णित सामाजिक संचेतना का विश्लेषण करना।
3. सामाजिक संचेतना जागरण में भानुप्रताप शुक्ल की पत्रकारिता का विश्लेषण करना।

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध अध्ययन में विषयवस्तु विश्लेषण पद्धति का प्रयोग किया गया है। तथ्यों के संकलन में पुस्तकालयों, विविध राष्ट्रीय समाचार पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों तथा भानुप्रताप शुक्ल पर प्रकाशित हुए आलेखों एवं पुस्तकों से सहायता ली गई है। शोध अध्ययन हेतु सामग्री संकलन में प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों स्रोतों से सहायता ली गयी है।

भानुप्रताप शुक्ल का परिचय

भानुप्रताप शुक्ल का जन्म उत्तर प्रदेश के जनपद बस्ती स्थित ग्राम राजपुर बैरिहवां में संवत् 1992, शाके 1857, श्रावण शुक्ल अष्टमी तदनुसार 7 अगस्त, 1935 को हुआ था। वह अपने पिता पण्डित अभयनारायण शुक्ल की एकमात्र संतान थे। जन्म के मात्र 12 दिन बाद ही माँ के स्वर्गवास के चलते उनका लालन-पालन उत्तर प्रदेश के सुल्तानपुर में नाना जगदम्बा प्रसाद तिवारी के घर हुआ। वर्ष 1955 में बतौर प्रचारक उन्होंने अपना जीवन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को समर्पित कर दिया। भारत की ऋषि परंपरा के मर्मज्ञ संपादकाचार्य पण्डित अम्बिका प्रसाद वाजपेयी के शिष्यत्व में पत्रकारिता की दीक्षा लेकर एक प्रखर और प्रबुद्ध पत्रकार के रूप में स्थापित हुए। राष्ट्रधर्म (मासिक) और तत्पश्चात तरुण भारत (दैनिक) समाचार पत्र का संपादकीय उत्तरदायित्व निभाया। उन्होंने संघ मुखपत्र 'पाञ्चजन्य' का भी संपादन किया।

भानु जी ने विविध पुस्तकों का लेखन भी किया है जिनमें भाषा और जीवन मूल्य, राष्ट्रीयता के बिसराव का आतंक , राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान, राष्ट्र जीवन की दिशा, सावरकर विचार दर्शन, रामजन्मभूमि का सच उल्लेखनीय हैं। पाञ्चजन्य से अलग होने के बाद उन्होंने देश के बड़े समाचार पत्रों दैनिक जागरण, पंजाब केसरी, राष्ट्रीय सहारा आदि में नियमित स्तंभ लेखक के रूप में राष्ट्रीय चिंतकों एवं विचारकों को पाथेय प्रदान किया। 17 अगस्त, 2006 को काल के क्रूर हाथों भानु जी इस नश्वर संसार से विदा हो गए।

भारतीय सामाजिक संदर्भ में 'लोक' की अवधारणा

शुक्ल का अभिमत था कि जिस व्यापक अर्थ में आज समाज शब्द का प्रयोग हो रहा है वह उसका मूल अर्थ नहीं है। उनके अनुसार इस संदर्भ में 'लोक' अधिक उपयुक्त शब्द है। यद्यपि उस समय अमृतलाल नागर जैसे साहित्यिक विचारक ने भी उनकी अवधारणा से असहमति जतायी थी, किंतु कालांतर में हम सभी ने अनुभव किया कि शुक्ल ने राजनीति की विचारधारा का संकेत दिया था। ऐसी विचारधारा जो लोक कल्याण को अपना आदर्श तो मानती है, किंतु किसी वर्ग विशेष के सुख-दुख की चिंता से उसके चिंतन का कोई सरोकार नहीं होता। आगे चलकर प्रख्यात साहित्यकार पं. विद्यानिवास मिश्र ने भी शुक्ल के चिंतन का व्यापक समर्थन किया।

'साहित्य अमृत' पत्रिका के फरवरी, 1995 के अंक के संपादकीय में मिश्र ने समाज को 'लोक' की अपेक्षा छोटा बताते हुए शुक्ल के विचार को संपुष्ट किया। उन्होंने अपने विवेचन में बताया कि समाज 'लोक' में समाविष्ट है और लौकिक व्यापारों के बहुत छोटे से भाग को संचालित करता है। शुक्ल अपने विचार के समर्थन में कहते हैं कि जिस प्रकार पूरी संकल्पना समझे बिना नेशन, रिलिजन और सेकुलरिज्म को अपनी भाषा में राष्ट्र, धर्म और धर्मनिरपेक्षता के रूप में व्यक्त किया जाने लगा है, उसी प्रकार अर्थ विस्तार के भाव में 'लोक' का स्थान समाज ने ले लिया है। शुक्ल प्रकट करते हैं कि, "आश्चर्य है कि हमने 'लोक' शब्द को छोड़कर, समाज शब्द को क्यों ग्रहण कर लिया और इसी के पर्यायवाची संप्रदाय शब्द से 'सांप्रदायिकता' शब्द की सृष्टि कर ली। आज हम करने को तो समाज की अर्थात सब की बात करते हैं, लेकिन हमारा ध्यान अपने समाज पर केंद्रित रहता है।..."[1] शुक्ल ने इसी वैचारिकी को जन सामान्य तक पहुंचाने के क्रम में 'पाञ्चजन्य' के 'वीर वनवासी' अंक तथा 'सामाजिक न्याय' अंक का प्रकाशन किया।

रामराज्य की संकल्पना और भारतीय समाज व्यवस्था

भानुप्रताप शुक्ल मानते हैं कि यह निर्विवादित तथ्य होना चाहिए कि भारत सदा से धर्मपरायण रहा है। यहाँ के सभी प्राणी सदैव रामराज्य की संकल्पना के अभिन्न अंग रहे हैं। इस विचार की प्रतिस्थापना में शुक्ल बताते हैं कि भारत में जो राज्य व्यवस्थाएं इस आधार से अलग हुईं उनका पतन हो गया। उनके विचार में सामाजिक, राजनीतिक और राष्ट्रीय शक्तियों के संगठन की आवश्यकता को हमेशा ही रामराज्य ने संबल दिया है। शुक्ल स्वाधीनता संग्राम में गांधी जी के 'स्वराज्य' के मूल में जाने पर पाते हैं कि वह रामराज्य की नींव पर ही टिका था। उनके विचार में वास्तव में रामराज्य लोक आस्था का राज्य होने के साथ ही लोकव्याप्त धर्म का राज्य भी था। शुक्ल के अनुसार, "स्वतंत्रता के संघर्ष की जनशक्ति पर ध्यान दें। उस समय महात्मा गांधी के पास लोकभावना से स्वराज्य की अपेक्षा करने का माध्यम केवल रामराज्य ही था। इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि श्रीराम का राज्य इस देश का एक ऐसा अंतर्भूत राज्य है जिस राज्य में संपूर्ण प्राणी अपने आपको दैहिक, दैविक, भौतिक तापों से मुक्त समझते हैं और उनके जीवन का मूलाधार उसी धर्मराज्य में निहित होता है।..."[2]

शुक्ल बताते हैं कि इस संकल्पना में धर्म का आशय उन नियमों से हैं जिनके उल्लंघन से मनुष्य ग्लानि का अनुभव करता है। वह अपने आचरण को स्वयं ही अनुचित मानता है। 'आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्' के आलोक में अनजाने ही अनुचित आचरण कर बैठा व्यक्ति भी अपने कृत्य पर न केवल लज्जित होता है बल्कि उसके लिए दंड स्वीकार करने के लिए भी तत्पर हो जाता है।

शुक्ल की वैचारिकी में किसी धर्मपरायण लोकमानस में उसकी स्मृतियों तथा आस्थाओं के अनुरूप ही उस समाज का मूल अस्तित्व आकार लेता है। समाज की धार्मिक चेतना जागृत होने पर वह धर्म के अनुशासन में ही स्वेच्छा से बंध जाता है। शुक्ल मानते हैं कि ऐसे समाज को न तो अर्थ से प्रभावित किया जा सकता है और न ही पथ भ्रष्ट किया जा सकता है। लोक चित्त को प्रेरणा देने वाले धर्म का राज्य जिस व्यवस्था में होता है, लोक मन उसी व्यवस्था को स्वीकार कर लेता है। शुक्ल इस व्यवस्था से विमुख हो जाने को स्वतंत्र भारत की राज्य व्यवस्था की असफलता करार देते हैं।

शुक्ल के विचार से श्रीराम की सत्ता प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष तथा लोक-लोकोत्तर दोनों में ही विद्यमान हैं। इस व्यवस्था से अनुप्राणित जन की जीवनचर्या, कुशलता तथा अंतःकरण की प्रवृत्ति उज्ज्वल चरित्र की ओर बढ़ने लगती है। वे श्रीराम की सनातन उपस्थिति को जनजीवन का अक्षय प्रेरणा स्रोत मानते हुए कहते हैं कि, "यह लोकसिद्ध सत्य है कि श्रीराम के राज्य में विभेद का कोई अस्तित्व नहीं है। यहाँ न कोई जाति भेद है और ना आर्थिक स्तरों का भेद। उनके एकछत्र साम्राज्य में समरस समाज ही व्याप्त होता है। यही वह सुमति है जिसमें सभी संपदाएं बिखरी पड़ी हैं। जहाँ श्रीराम नहीं होते वहाँ सुमति नहीं होती और जहाँ सुमति नहीं होती, वहाँ संपत्ति की आशा करना व्यर्थ है। कुमति के राज्य में संपत्ति नहीं, विपत्तियों का वास होता है।"[3]

भारतीय जीवन दर्शन और सामाजिकता

शुक्ल बेबाकी से अभिव्यक्त करते हैं कि भारतीय परंपरा और जीवन दर्शन स्वभावतः ही पंथनिरपेक्ष है। पंथनिरपेक्षता भारत की राजनीतिक और धार्मिक मजबूरी न होकर उसका मूल स्वभाव है। अनेक पंथों की विविधता, उनका सह चिंतन और सह जीवन उसकी विशेषता है। सभी पंथों का समादर उसकी मूल चेतना, चिंतन तथा आचरण में व्याप्त हैं। शुक्ल राजनीतिक परिवर्तन के मूल में भी सामाजिक जागरूकता को प्रधान कारक तत्व घोषित करते हुए कहते हैं कि, "भारत राजनीति नहीं धर्म और संस्कृति का देश है। यहाँ राज्य बदलने से समाज नहीं बदलता बल्कि समाज अर्थात लोक जीवन में उत्क्रांति होती है तो राजनैतिक परिवर्तन आता है।..."[4]

शुक्ल गौतमबुद्ध और उनके शिष्य आनंद के संवाद के हवाले से बताते हैं कि बुद्ध ने सामाजिकता की संकल्पना देते हुए कहा था कि जब तक वैशाली की जनता की सामाजिकता बनी रहेगी, उसे कोई खतरा नहीं होगा। सामाजिकता समाप्त होते ही शोषण, उत्पीड़न, अनाचार, अभाव और भ्रष्टाचार को रोका नहीं जा सकेगा। शुक्ल स्पष्ट करते हैं कि गौरव एवं वैभव की प्राप्ति के लिए मानवीय गुणों का विकास ही एकमात्र मार्ग है। सामाजिकता को समृद्धशाली तथा अजेय बनने की कुंजी बताते हुए शुक्ल कहते हैं कि, "हम सोचें कि जब तक हम अपने समाज के प्रत्येक व्यक्ति का सम्मान करते रहे, हमने अपने बनाए गए नियमों का पालन किया, अपने श्रेष्ठ पुरुषों की बात मानी, अपनी कुल-ललनाओं की महिमा का आदर किया, पूज्यों की पूजा की, धर्म एवं ज्ञान में श्रेष्ठ जनों को स्वतंत्र चिंतन और विचरण करने दिया, तब तक हमारी श्री समृद्धि का सूर्य चमकता रहा। शत्रु हमारी ओर देखने का दु:साहस नहीं कर सका। शासक समाज का शोषण नहीं कर सके। हम अजेय बने रहे।"[5]

विवाह का पावित्र्य और भारतीय समाज

शुक्ल पश्चिमी भौतिकतावादी चकाचौंध में जकड़ी आज की विवाह प्रवृत्ति को आड़े हाथों लेते हैं। इसे मानसिक दासता बताते हुए उनका मत है कि गोरी चमड़ी के प्रति श्रेष्ठता भाव ने आजादी के बाद विकराल रूप ले लिया है। वे भारतीय युवतियों में विदेश जाने के आकर्षण तथा वहीं पर विवाह संबंधों को तार्किक आधार पर अनुचित मानते हैं। उनका विश्वास है कि पश्चिमी नैतिकता, पूजा पद्धति, सामाजिक संबंध और खुद व्यक्ति का अस्तित्व धन आधारित है। ऐसे में पश्चिम का समाज भारत के हिंदू समाज की तुलना में विवाह और तलाक के संबंध में महिलाओं के प्रति अत्यधिक क्रूर सिद्ध हुआ है।

शुक्ल बताते हैं कि पश्चिम में हर दूसरा विवाह तलाक में बदल जाता है, जिसके बाद महिला दोबारा कितनी ही बार विवाह कर सकती है। पश्चिम के अंधानुकरण के कारण भारतीय समाज में तलाक की परंपरा ने जन्म लिया है किंतु तलाक की दर विश्व में सबसे कम है। पश्चिम में जीवन का आधार मर्यादा ना होकर व्यक्तिपरक जीवन है। कानून रोजाना की आवश्यकताओं के आधार पर बने हैं। उनकी दृष्टि में काम तथा विवाह दोनों संभोग के लिए है जबकि भारतीय समाज में विवाह नैतिकता और मर्यादा से जुड़ा है। भारतीय समाज व्यवस्था में विवाह

संस्कार के पावित्र्य को परिभाषित करते हुए वे कहते हैं कि, "भारतीय परंपरा में विवाह को भोगवादी नहीं, अपितु इसे एक अत्यंत ही पवित्र और अटूट बंधन माना जाता है। भारतीय दृष्टि में काम की निवृत्ति विवाह के उद्देश्य का केवल अल्पांश है। हमारे भारत में विवाह को दो शरीरों का ही नहीं, दो आत्माओं का मिलन माना जाता है। इसकी पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय जिम्मेदारियाँ और उपादेयताएँ हैं।..."[6] शुक्ल के विचार में भारतीय जीवन दृष्टि में 'काम' को भोगपरक दृष्टि से नहीं देखा जाता। ऐसा भी नहीं है कि ऐसे श्रेष्ठ विचार केवल मातृ ग्रंथों में लिख कर छोड़ दिए गए हैं, ये विचार ही यह सनातन भारतीय जीवन दर्शन की वास्तविकता हैं। भारतीय जीवन दर्शन चिरकाल से इन आदर्शों को जीता आ रहा है।

जाति व्यवस्था का यथार्थ

शुक्ल के विचार में भारत की हजारों वर्षों की समृद्ध विरासत जातियों के पारस्परिक समन्वय और सौहार्द पर ही टिकी है। राष्ट्र पर कोई भी संकट आने पर सभी ने सामूहिक प्रयासों से उस पर विजय प्राप्त की है। आजादी के बाद देश में जाति की इसी मूलभूत और स्वाभाविक संरचना को स्वतंत्र राष्ट्र के समग्र विकास का आधार तैयार करना था। लेकिन राजनीति के कुचक्र ने युगीन सामाजिक सौमनस्य को वैमनस्य में बदल डाला। जाति के राजनीतिक निहितार्थ निकाले जाने तथा उसको विकृत ढंग से प्रस्तुत किए जाने के दौर में शुक्ल जाति को परिभाषित करते हैं, "भारत के लोकतंत्र की वास्तविक शक्ति निश्चय ही यहाँ की जातियों में है, जिस पर पंचायत गणव्यवस्था की नींव खड़ी हो सकती है। परंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि यह 'जाति' वर्ण व्यवस्था की तथाकथित जातियाँ नहीं है। जाति दैशिकता को प्रतिनिधित्व देने वाला शब्द है। यह शब्द आंचलिक प्रकृति और स्वभाव को ज्ञापित करता है।..."[7]

'सामाजिक न्याय' राजनीतिक अवधारणा

शुक्ल अपनी वैचारिकी को नयी धारा और त्वरा देते हुए वर्तमान राजनीति में गढ़ी गयी तथाकथित 'सामाजिक न्याय' की अवधारणा का गहन विश्लेषण करते हैं। उनको प्रतीत होता ही कि वास्तव में उसका मूल शाश्वत मानव दर्शन में ही मौजूद है। भारत की सर्वव्यापी संस्कृति ही उसकी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करती रही है। शुक्ल ने सामाजिक न्याय के प्रश्न को राजनीतिज्ञों तथा सेकुलर बुद्धिजीवियों से अलग सांस्कृतिक और लोक धरातल पर देखा। शुक्ल के विचार से कर्म आधारित वर्ण व्यवस्था ने प्रत्येक वर्ण के नैतिक मूल्य एवं दायित्व निश्चित किए थे।

शुक्ल सहजता से उद्धृत करते हैं कि सैकड़ो वर्षों की अनवरत यात्रा में भारतीय सामाजिक व्यवस्था में दोष, विकृति भी जन्म लेते रहीं, किंतु उनके निवारण के उपाय भी समय-समय पर तलाशे जाते रहे। समाज सुधार आंदोलनों ने समय-समय पर सामाजिक चेतनता, चैतन्य और व्यापक जागृति को उत्पन्न किया। उनके अनुसार, "भारत में लोक संरचना का प्रारंभ हुआ। कर्म आधारित लोक रचना हुई। उन कर्मों के परस्पर संबंध एवं अनिवार्यता के आधार पर लोक व्यवस्था की गई। जाति, उपजातियों पर आधारित भेदभाव का भारतीय लोक-व्यवस्था, लोक-संस्कार और लोक-संस्कृति में कोई स्थान था ही नहीं। मनुस्मृति बदलते लोक-जीवन का नियमन नहीं कर पाई तो उसे 2500 वर्ष पूर्व अस्वीकार कर दिया गया। इन देशों के सुधार हेतु विभिन्न कालखंडों में विभिन्न महापुरुषों ने अनेक और बहुआयामी अनुष्ठान एवं आंदोलन किए।..."[8] शुक्ल इस विचार से अभिभूत होते हैं कि समस्त विश्व में भारतीय लोक जीवन और लोक व्यवस्था एकमात्र ऐसी व्यवस्था है जिसमें परिवर्तन की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। यहां किसी भी नीति, सिद्धांत और व्यक्ति के वक्तव्य को अंतिम सत्य के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया गया।

सोशल इंजीनियरिंग का पाखंड

'सामाजिक न्याय' के जुमले के दौरान ही राजनीतिक दलों के नए शिगूफे 'सोशल इंजीनियरिंग' को शुक्ल मिथ करार देते हुए उस पर कुठाराघात करते हैं। वे इस विचार को 1924 के प्रथम चरण में सोवियत रूस के निर्माता लेनिन से जुड़ा पाते हैं, जिसे स्वयं उसने भी अमेरिका से आयात किया था। ऐसे में शुक्ल भारतीय परिप्रेक्ष्य में इसके प्रादुर्भाव को विस्थापित शरणार्थी की संज्ञा देते हैं। वे इस विचार के पक्षधर विचारकों तथा राजनेताओं को जूठन चाटने में भी व्यंजन जैसा स्वाद लेने का दोषी मानते हैं। शुक्ल अपनी पीड़ा को अभिव्यक्त करते हैं, "समाज कोई जड़ वस्तु नहीं है, जैविक इकाई है। जो लोग जड़ता और जैविकता का अंतर नहीं जानते वे ही किसी सड़क, पुल या भवन, कार, विमान अस्त्र-शस्त्र की तरह सामाजिक पुनर्रचना को इंजीनियरिंग से जोड़ते हैं। 'इंजीनियरिंग' जड़ता से जुड़ी एक यांत्रिक विधा है, जबकि जीवंत संबंध, स्नेह और संस्कार जीवन को आलोकित और सामाजिक दायित्व बोध जागृत करने की संवेदनशील प्रक्रिया है। सामाजिक संरचना के लिए चाहिए ममतायुक्त मन। किंतु ममतायुक्त मन का निर्माण किसी आभियंत्रिकी द्वारा नहीं किया जा सकता।"[9]

शुक्ल का स्पष्ट मानना है कि सोशल इंजीनियरिंग का हौवा खड़ा करने वाले राजनेताओं तथा विचारकों ने यदि भारतीय शास्त्रों की पड़ताल की होती, ऋषियों संतों के संदेश सुने और समझे होते तो उनको अमेरीकी सोशल इंजीनियरिंग की जूठन की जुगाली न करनी पड़ती। इस अवधारणा का प्रतिपादन और समर्थन ऐसे ही लोग कर सकते हैं जिनको भारत के लोक जीवन की अवधारणा तथा विकास प्रक्रिया का ज्ञान ही नहीं है।

निष्कर्ष

भारतीय समाज अपनी समृद्ध संस्कृति के नाद की अनुगूंज, इतिहास में चित्रित अपने स्वरूप का स्मरण रखते हुए प्रगति पथ पर बढ़ता रह सकता है। भारतीय समाज को अंग्रेजी शासकों द्वारा गढ़े गए जाति बोध की संकीर्णता को समय रहते समझना होगा। कर्मभेद और संस्कारजन्य अंतर को रक्त भेदजन्य जातिभेद नहीं स्वीकारा जा सकता है। वर्ण की अवधारणा जाति की अवधारणा से सर्वथा अभिन्न है। दुनिया के हर समाज में पिछड़े लोग विद्यमान हैं। भारत का संपूर्ण लोक समाज एक मूल और एक रक्त का है, जिसके उत्थान का एकमेव मार्ग अनुभूत सांस्कृतिक मार्ग का अनुकरण है। इतिहास साक्षी है कि कर्म परिवर्तन और साधन संपन्नता से ब्राह्मण शुद्र हुए हैं और शूद्रों ने क्षत्रिय प्राप्त किया है।

संदर्भ:

- शुक्ल) भानुप्रताप ,2008 .(भानुप्रताप शुक्ल समग्र-खंड ,15-पृष्ठ .साहित्य प्रकाशन : दिल्ली ,12.
- शुक्ल) भानुप्रताप ,2008-खंड ,भानुप्रताप समग्र .(12-पृष्ठ .साहित्य प्रकाशन : दिल्ली .103 .
- शुक्लभानुप्रताप , (2008). आलेख -पृष्ठ .साहित्य प्रकाशन : दिल्ली .कालचक्र .रामराज्य :104.
- शुक्ल) भानुप्रताप ,1993 ,21 मार्च'अपना भारत' पाञ्चजन्य विशेषांक : संपादकीय (.
- शुक्ल) भानुप्रताप ,1973 ,29 नवंबर.राष्ट्रधर्म ,राष्ट्रीय गुण : आलेख .(
- शुक्ल) भानुप्रताप ,2008-खंड ,भानुप्रताप शुक्ल समग्र .(12-पृष्ठ .साहित्य प्रकाशन : दिल्ली ,234.
- शुक्लभानुप्रता ,प)2008-खंड ,भानुप्रताप शुक्ल समग्र .(12-पृष्ठ .साहित्य प्रकाशन : दिल्ली ,250.
- शुक्ल) भानुप्रताप ,1994 ,23 जनवरी .पाञ्चजन्य .सामाजिक न्याय : संपादकीय .(
- शुक्ल) भानुप्रताप ,1994 ,14 मार्च .दैनिक जागरण ,सोशल इंजीनियरिंग : आलेख .(